



ISSN: 3049-2017

IJMH 2025; 2(4): 01-05

© 2025 IJMH

www.themultijournal.com

Received: 02-07-2025

Accepted: 05-07-2025

Publish : 07-07-2025

Dr. Parshotam Dass

Assistant Prof. in Sanskrit,

MAM College,

Jammu

भाष्यकार पतंजलि की दृष्टि से शेषे षष्ठी पर विचार

Dr. Parshotam Dass

सारांश :-

संस्कृत व्याकरण में कारकों का महत्वपूर्ण स्थान है। वाक्यविज्ञान की दृष्टि से कारकों का ज्ञान अपरिहार्य है। “आख्यातोपयोगे” सूत्रप्रोक्त- ‘उपाध्यायात् शृणोति’ तथा ‘नटस्य शृणोति’ इत्यादि उदाहरणजनित विभक्ति भेद से वाक्यार्थ में कैसे भेद हो जाता है- यह सभी वैयाकरणों को सुविदित है। यूँ तो इस कारक की अनेक परिभाषाएँ दी जाती हैं किन्तु कारक की सर्वमान्य परिभाषा है- “क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्” अर्थात् क्रिया के निष्पादक धर्म का नाम कारक है। दूसरे शब्दों में - संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण का जो क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, वह कारक कहलाता है। “करोतीति कारकम्” यह कारक शब्द का भाष्यप्रोक्त अन्वर्थ निर्वचन भी इस विषय में उपोद्धलक है। वास्तव में कारक और क्रिया में अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतः जैसे कारक की परिभाषा में क्रिया का होना अनिवार्य होता है वैसे ही क्रिया की परिभाषा भी कारक से ही पूरी होती है।

संस्कृत व्याकरण में कारकों का महत्वपूर्ण स्थान है। वाक्यविज्ञान की दृष्टि से कारकों का ज्ञान अपरिहार्य है। “आख्यातोपयोगे”¹ सूत्रप्रोक्त- ‘उपाध्यायात् शृणोति’ तथा ‘नटस्य शृणोति’ इत्यादि उदाहरणजनित विभक्ति भेद से वाक्यार्थ में कैसे भेद हो जाता है- यह सभी वैयाकरणों को सुविदित है। यूँ तो इस कारक की अनेक परिभाषाएँ दी जाती हैं किन्तु कारक की सर्वमान्य परिभाषा है- “क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्”² अर्थात् क्रिया के निष्पादक धर्म का नाम कारक है। दूसरे शब्दों में - संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण का जो क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, वह कारक कहलाता है। “करोतीति कारकम्” यह कारक शब्द का भाष्यप्रोक्त अन्वर्थ निर्वचन भी इस विषय में उपोद्धलक है। वास्तव में कारक और क्रिया में अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतः जैसे कारक की परिभाषा में क्रिया का होना अनिवार्य होता है वैसे ही क्रिया की परिभाषा भी कारक से ही पूरी होती है, तद्- ‘यथा सर्वकारकान्वयितावच्छेदकधर्मवती क्रिया’³ ऐसी स्थिति में जैसे क्रिया अमूर्त होती है वैसे ही फिर यह कारक भी अमूर्त ही होता है। इस कारकरूपी अर्थ को व्यक्त करने के लिए विभक्तियों का प्रयोग होता है। इसलिए कारक और विभक्ति एक न होकर इनमें व्यङ्ग्यवयंजकभाव सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ जैसे- ‘रामः पाठं पठति’ इस वाक्य में ‘रामेण पाठः पठ्यते’ इस प्रकार वाच्यपरिवर्तन द्वारा विभक्तिभेद होने पर भी कारकभेद नहीं होता सम्भवतः इसलिए आचार्य पाणिनि ने भी इन दोनों को एक साथ न पढ़कर अलग-अलग अध्यायों में पढ़ा है। इनमें कारक बुद्धि का विषय है जबकि विभक्ति श्रवणेन्द्रिय का विषय है।

अवधेय है कि व्याकरण शास्त्र में साधन या कारक को द्रव्य या शक्ति न मानकर गुण वा शक्ति माना गया है क्योंकि यदि कारक को द्रव्य या शक्तिमान् माना जाएगा तो फिर जो करणकारक है, वह सदा करण ही रहेगा, जो अधिकरण कारक है वह भी सदा अधिकरण ही रहेगा अर्थात् विवक्षा के अनुसार कारकों का अभीष्ट प्रयोग या उनमें अभीष्ट विभक्ति परिवर्तन नहीं हो सकेगा जबकि कारकों का तो प्रयोग ही विवक्षा के अनुसार होता है- “विवक्षातः कारकाणि भवन्ति”⁴। अतः शास्त्र में साधन या कारक को द्रव्य या शक्तिमान् न मानकर गुण या शक्ति ही माना जाता है क्योंकि शक्ति तो अमूर्त होती है। अतः उसको वक्ता की इच्छा के अनुसार किसी भी रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।⁴

Correspondence:**Dr. Parshotam Dass**

Assistant Prof. in Sanskrit,

MAM College,

Jammu

संस्कृत व्याकरण में इन कारकों की संख्या छह है, तद्यथा-कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण।⁵ यहाँ षष्ठ्यर्थरूप सम्बन्ध को कारक नहीं माना जाता है, क्योंकि सम्बन्धवाचक शब्द का क्रिया के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है जबकि कारक होने के लिए इसका क्रिया से सीधा अन्वित होना अपरिहार्य है। वैसे लक्ष्यानुरोधात् कई बार गम्यमाना क्रिया भी कारकविभक्ति की प्रयोजिका होती है।⁶ इन कारकों को व्यक्त करने के लिए जिन विभक्तियों का प्रयोग होता है, उन्हें कारक विभक्ति कहा जाता है तथा जहाँ किसी पदविषेय के योग के कारण विभक्ति का प्रयोग होता है, उसे उपपदविभक्ति कहते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त जब कभी कारकार्थ या प्रातिपदिकार्थ को विहितविभक्ति के द्वारा अभिहित किया जाना विवक्षित नहीं होता है तो वहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। यह षष्ठी विभक्ति शास्त्र में शेषषष्ठी के नाम से जानी जाती है। संस्कृत वाङ्मय के अनेक षष्ठ्यप्रयोग इस शेषषष्ठी को मानने पर सुसंगत हो पाते हैं। प्रस्तुत पत्र में शेषषष्ठीगत इस 'षे' शब्द के अर्थ पर साङ्गोपाङ्ग विचार किया गया है जो कि "षष्ठी शेषे" सूत्र के भाष्य और उसकी टीकाओं पर आधारित है।

तदनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि कर्म आदि कारकों के अन्य या भिन्न जो प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त स्वस्वाभिभावादिरूप सम्बन्ध अर्थ शेष है, अभी तक किसी से अभिहित नहीं हुआ है, उसमें षष्ठी होती है, जैसे- 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ 'राजा' और 'पुरुष' के स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध को कहने में प्रकृत सूत्र से विषेषणभूत 'राजन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है तो उक्त इष्ट रूप बन जाता है। सर्वप्रथम इस सूत्र पर भाष्यकार पूछते हैं कि इस सूत्र में जो 'षे' कहा गया है, उस 'षे' का क्या अर्थ है?

प्रदीपकार के अनुसार भाय यह है कि क्या अप्रधान, विषेषण या गौण को 'षे' कहते हैं अथवा प्रयोग होने के बाद बचे हुए अन्य अर्थ को 'षे' कहते हैं? अब इसमें यदि प्रथम पक्ष माना जाए तो सब कारकों के क्रियार्थ होने के कारण वे भी 'षे' बन जाते हैं। फलतः फिर वहाँ भी इस सूत्र से षष्ठी प्राप्त होगी। इस तरह सर्वत्र कर्म आदि के विद्यमान होने से उत्तर भी शेषार्थ प्रकल्पित नहीं होता यह प्रश्न है।⁷ यहाँ यह कहना कि कर्मत्व आदि की अविवक्षा की स्थिति में इसके चरितार्थ हो जाने से और क्रियाकारक भाव के साथ अन्वय हो जाने से वहाँ उस-उस विषेष विधि के द्वारा बाध लिया जाने से फिर यह षष्ठी अनिष्टरूपेण कहाँ प्राप्त होगी।

इसी तरह किसी के अभिहित हो जाने पर वहाँ भी प्रथमा के द्वारा यह षष्ठी रोक दी जाएगी। फलतः यह अनिष्ट षष्ठी कहाँ प्रसक्त होगी तो यह ठीक नहीं क्योंकि जोऽविदर्थस्य करणे⁸ जो इत्यादि सूत्रों में इस 'षे' ग्रहण की अनुवृत्ति होने से उनके विषय में क्रियाकारकभाव के साथ अन्वय होने पर भी परत्वात् कर्म आदि जनित द्वितीय आदि विभक्तियों को बाधकर वहाँ यह षष्ठी प्राप्त होती ही है।⁹

भाष्यकार अब इसका उत्तर देते हैं कि "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" "10 इत्यादि के रूप में कर्म आदि कारकों को कहे जाने के बाद उनसे बाकी बचा हुआ जो स्वस्वामिभाव या सम्बन्धरूप अन्य अर्थ है वह यहाँ 'शेष' शब्द से अभिप्राय है, क्योंकि कर्म आदि कहने के बाद उच्चारण किया गया 'शेष' शब्द फिर अन्य अर्थ को ही प्रतिपादित करता है उसमें प्रकृत से परत्वात् षष्ठी विभक्ति होती है। इस षष्ठ्यर्थ-रूप सम्बन्ध के विषय में भर्तृहरि भी कहते हैं-

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।

श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते।¹¹

इसका तात्पर्य यह है कि क्रिया न सुनाई देने पर भी 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि में क्रियाकारण सम्बन्धपूर्वक अन्य ही कोई स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध प्रतीत होता है और 'मतुः स्मरति' इत्यादि में जब क्रिया साक्षात् सुनाई दे रही है, तब तो कर्म के विद्यमान होने पर भी उसकी कर्म के रूप में विवक्षा न करके 'मातृसम्बन्धी स्मरणम्' इस अर्थ द्वारा माता का स्मरण के प्रति क्रियाकर्मत्वमूलक विषेष्यविषेषणभाव ही प्रतिपादित किया जाता है।

इस पर भाष्यकार आपत्ति करते हैं किन्तु आपका यह 'शेष' का पूर्वोक्त लक्षण तो ठीक नहीं बनता, क्योंकि कर्म आदि कारकों को कहने के बाद उनसे बचे हुए अन्य कोई अर्थ ही नहीं हैं जिन्हें 'शेष' कहें या कहा जा सके। दूसरे शब्दों में क्रिया के बिना दान आदि के द्वारा स्वीकरण से अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं उपपन्न हो सकेगा अर्थात् सर्वत्र क्रिया और उसके विभिन्न कर्म आदि ही आवश्यक रहेगे। फलतः सम्बन्ध के न बन पाने से फिर उस सम्बन्ध को कहने के लिए सर्वत्र ही क्रिया विद्यमान रहेगी। और यदि क्रिया विद्यमान रहेगी तो फिर क्रियानिमित्तक कारक भी वहाँ अवश्य विद्यमान रहेगे। उस अवस्था में आपके द्वारा कर्म आदि अर्थों से अन्य अर्थ को 'शेष' कहना उपपन्न नहीं होता। तदनुसार जैसे पहले 'राज्ञः पुरुषः' यही उदाहरण देखिए-यहाँ राजा का पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है? यहाँ केवल यही सम्भव है कि राजा पुरुष को कुछ देता होगा। अतः वह कर्ता कारक है और पुरुष उस राजा से कुछ लेता होगा या राजा उस पुरुष को कुछ देता होगा। अतः ऐसा अर्थबोध होने से पुरुष सम्प्रदान कारक बन जाता है। ऐसी स्थिति में फिर वह 'शेष' कहाँ रहा? इसी तरह 'वृक्षस्य शाखा' अर्थात् पेड़ की शाखा-यहाँ शाखा पेड़ भी रहती है-ऐसा अर्थबोध होने से वह भी उस शाखा का अधिकरण कारक हुआ, शेष नहीं है। ध्यान रहे कि भाष्यकार द्वारा अवयविरूप वृक्ष को अवयवरूप शाखा का अधिकरण कहना लोक प्रसिद्धि या लोकव्यवहार की दृष्टि से ही कहा गया जानना चाहिए अन्यथा वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया के अनुसार तो अवयव ही अवयवी का अधिकरण होता है, अवयवी अवयव का नहीं। इसी प्रकार सब जगह जानना चाहिए।¹² यहाँ यह कहना कि 'राज्ञः पुरुषः' इस उदाहरण में तो राजा पुरुष को कुछ देता है। इसलिए भले ही वह तो कर्ता तथा पुरुष सम्प्रदान हो

सकता है, परन्तु 'राज्ञो वस्त्रम्', 'विप्रस्य गौः' तथा 'विप्रस्य तिलः' इत्यादि में यह सम्प्रदानत्व संभव न होने से यहाँ तो निश्चयेन शेषत्व हो जाएगा तो ठीक नहीं, क्योंकि नागेश के अनुसार, यह सब तो 'स्व' है।¹³ भाष्यकार कहते हैं कि यह जो 'स्व' अर्थात् 'अपना' शब्द है, यह अपनापन चार प्रकार का है, अर्थात्, कोई भी वस्तु निम्न कारणों से अपनी होती है- या तो खरीदकर या चोरी से या माँगने से या परिवर्तन अथवा वस्तुओं का अदला-बदली से। और इन सब कामों में, कर्म आदि कारक विद्यमान रहते ही हैं भाव यह है कि 'राज्ञः गौः' इस वाक्य में, गाय राजा की स्व है तथा स्वयं राजा गाय का स्वामी है। अब इस 'स्व' रूप गाय को स्वामिरूप राजा निम्न चार प्रकारों से प्राप्त हो सकती है, जैसे राजा गाय को खरीदकर अपनी बनाता है। यहाँ गाय क्रयण क्रिया का कर्म है। इसी तरह राजा किसी से गाय को छीनकर अपनी बनाता है, जैसे क्षत्रिय युद्ध करते हैं, इसी प्रकार, राजा किसी से गाय को मांगकर उसे अपना बनाता है, तथा इसी तरह राजा कोई अपनी वस्तु देकर उसके बदले में गाय लेकर उसे बताना है। यहाँ सर्वत्र राजा कर्ता है। इस प्रकार, 'स्व' में भी कर्म आदि के होने से यह भी शेष नहीं कहा जा सकता।¹⁴

भाष्यकार इस पर आपत्ति करते हैं कि नहीं, यह बात ऐसी तो नहीं होनी चाहिए, क्योंकि "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः" इस न्यायानुसार शब्द के पीछे अर्थ को नहीं चलना चाहिए अर्थात् शब्द प्रयोग के होने या न होने से अर्थ का होना या न होना नहीं निश्चित होता अपितु अर्थ के पीछे शब्द को चलना चाहिए अर्थात् अर्थ को प्रतिपादित या बताने की इच्छा से शब्द का उच्चारणानुच्चारणलक्षण भावाभाव होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ षष्ठी के प्रयोग को देखकर उसका सम्बन्धरूप अर्थ नहीं जानना चाहिए अपितु सम्बन्धरूप अर्थ को देखकर 'राज्ञः' में षष्ठी का उच्चारण या प्रयोग करना चाहिए। वास्तव में राजा के परोपकारी या विशेषणरूप में विवक्षित होने के कारण उससे तो विशेषणतानियामक सम्बन्धबोधिका और तद्गतविशेषणताबोधिका षष्ठी हो जाती है तथा पुरुष के उपकार्य होने के कारण उसके स्वार्थमात्र निरूपित विशेष्यता के रूप में ही विवक्षित होने से उसमें अन्तरङ्गत्वात् प्रथमा हो जाती है। इस विषय में भर्तृहरि ने भी कहा है-

द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।

तत्राभिधीयमानञ्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते।¹⁵

अर्थात् यद्यपि सम्बन्ध विशेष्य तथा विशेषण में उभयनिष्ठ होता है तथापि इसके विषेषणार्थ होने के कारण यह गौण या विशेषण पदों में ही मुख्यतया प्रतीत होता है क्योंकि सम्बन्ध के बिना विषेषणत्व का ज्ञान असंभव है। अतः विशेषणपदों में ही षष्ठी होता है, विशेष्यों में नहीं, क्योंकि उनमें विशेष्यतानियामक सम्बन्ध की कोई आकांक्षा नहीं होती। अब वहाँ षष्ठ्यन्त विशेषण शब्द से अभिधीयमान होने वाला यह संबंध विषेष्य या प्रधान में भी उपयुक्त हो जाता है, अर्थात् यह

सम्बन्ध के दिष्ट स्वभाव वाला होने से यह 'राजा' आदि पदों की सन्निधि में प्रतीत होने वाली 'राजा' आदि से निरूपित विशेष्यता का भी उपकारक होता है।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि इस बात को 'राज्ञः पुरुषः' के प्रसंग में विशेषरूप में ऐसे देखिए कि यह पदार्थ का एक विशेष स्वरूप ही है जिसमें बिना 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के भी केवल 'राजन्' शब्द से वह विशेषण और सम्बन्ध अर्थ निकलता है। पूछता है कि कौन सा अर्थ है तो इसका उत्तर है कि वह अर्थ है "समाकृतद्धितेषु सम्बन्धभिधानम्" इस वचनानुसार राजा का पुरुष पर स्वामित्व एवं तत्कृत विशेषणत्व होना और पुरुष के द्वारा राजा का 'स्व' होना। इस तरह यह स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध अर्थ तथा तन्मूलक विशेषत्व ही है जिसको षष्ठी विभक्ति बिना 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के भी सहजरूपेण सूचित कर रही है। पूछते हैं कि यह स्वामित्वरूप अर्थ किस कारण से प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ स्वत्ववाचक कोई पद नहीं है तो उसका उत्तर है कि 'स्व' मात्र के कारण से, क्योंकि "स्वामिनैश्वर्यं"¹⁶ इस सूत्रानुसार 'स्व' शब्दमात्र से ही 'ऐश्वर्य' अर्थ में 'आमिनच्' प्रत्यय होने पर स्वामित्व उपपन्न होता है।

भाव यह है कि 'स्व' के नियत न होने से उसकी अपेक्षा करके पहले सम्बन्धाश्रया षष्ठी हो जाती है। पुरुष की सन्निधि में तो 'स्व' की प्रतिपत्ति होने से उसमें प्रथमा होती है। इसके अतिरिक्त प्रातिपदिकार्थों में भी क्रियाओं के कारण या क्रियासामान्य-निरूपितफलापेक्षया कुछ विशेष शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् उनकी विवक्षा कर ली जाती है और उन शक्तियों के कारण ही उन प्रातिपदिकार्थों के नाम भी पड़ जाते हैं, जैसे यह कर्म कारक है, यह करण कारक है यह अपादान कारक है, यह सम्प्रदान है तथा यह अधिकरण है। और ये शक्तियाँ भी विभक्तियों को उत्पत्ति में कभी तो क्रिया के प्रति व्यापारावेश की विवक्षा होने पर निमित्त बन जाती है, जैसे 'दात्रेण लुनाति' और कभी योग्यतामात्र की विवक्षा होने पर विभक्त्युत्पत्ति में निमित्त नहीं बनतीं, जैसे 'दात्रं लवने करणम्'। भाव यह है कि प्रातिपदिकार्थरूप सब पदार्थ सर्वविधशक्तियों वाले होते हैं और शक्तियों से धर्मी या शक्तिमान् का भेद भी होता है तथा अभेद भी। इनमें विभक्तियों का प्रयोग तो शक्ति और शक्तिमान् में भेद की विवक्षा करने पर होता है। इस दृष्टि से जब क्रिया के साथ कर्ता का ईप्सिततम रूप से सम्बन्ध होता है तो प्रातिपदिकार्थ की इस एक शक्ति का नाम कर्म हो जाता है। इसी तरह क्रिया के साथ कर्ता का साधकतम आदि के रूप में सम्बन्ध होने पर प्रातिपदिकार्थ की इन शक्तियों को करण आदि कह देते हैं। तदनुसार जैसे-"दात्रेण लुनाति" यहाँ लवन क्रिया की अपेक्षा से 'दात्र' शब्द की करणसंज्ञा प्रयुक्त तृतीया होती है वैसे ही 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ भी पुरुषरूप स्व की अपेक्षा से 'राजन्' शब्द में षष्ठी हो जाती है और इस तरह जैसे 'दात्र लवने

करणम्' यहाँ स्वार्थनिरूपितविशेष्यता के कारण 'दात्र' शब्द से प्रथमा होती है वैसे ही फिर 'राजा पुरुषस्य स्वामी' यहाँ भी 'राजा' शब्द में स्वार्थनिरूपित विशेष्यता के कारण ही प्रथमा हो जाती है अर्थात् जैसे 'विद्यालयं गच्छति' तथा 'विद्यालयत् गच्छति' यहाँ यद्यपि विद्यालयरूप प्रातिपदिकार्थ में उक्त दोनों कर्म और अपादान कारकों को व्यक्त करने की शक्तियाँ हैं परन्तु 'विवक्षताः कारकाणि भवति' इस न्याय से वक्ता प्रातिपदिकार्थ की जिस शक्ति को कहना चाहता है वह उसको तो विभक्ति से प्रकट कर देता है, जबकि उस समय अन्य शक्तियाँ प्रसुप्तया निष्क्रिय ही होती हैं।

भाष्यकार आगे पूछता है कि कर्म आदि संज्ञाएं विभक्तियों की उत्पत्ति में कब निमित्त बनती है तो इसका उत्तर देते हैं कि जब ये विभक्तियाँ प्रातिपदिकार्थ को व्यभिचारित कर देती हैं अर्थात् जब प्रातिपदिकार्थ की क्रियावेषविवक्षा से शक्तिलक्षणा अर्थात्तिरेक होता है तब ये शक्तियाँ प्रातिपदिकार्थता या विभक्ति प्रयोग के बिना भी इसके अर्थ को छोड़ देती हैं। फलतः तब ये द्वितीया आदि विभक्तियों की उत्पत्ति का निमित्त बन जाती है। परन्तु जब तक वो प्रातिपदिक अपने शुद्ध या स्वार्थ-निरूपित विशेष्यरूप अर्थ में ही स्थित विवक्षित रहता है तब तक तो सिवाय प्रथमा के और कोई विभक्ति नहीं उत्पन्न होती। उस समय वहाँ केवल यही कहा जाता है कि यद्यपि इस प्रातिपदिक में कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व, अपादानत्व या अधिकरणत्व आदि सभी शक्तियाँ समाहित हैं परन्तु यह प्रातिपदिकार्थ को व्यभिचारित न करने की स्थिति में तो ये कर्म आदि केवल कर्मरूप नाम या कर्म आदि संज्ञा रूप में ही होते हैं विभक्तियों की उत्पत्ति में यह प्रयोजक या निमित्त नहीं बनते। फलतः विभक्तियाँ न आने से फिर वे संज्ञाएं व्यर्थ होती हैं।

तात्पर्य यह है कि जब प्रातिपदिकार्थगत शक्ति क्रियाफलापेक्षया प्रातिपदिकार्थ से अलग रूप में विवक्षित होती है तब तो वह अपने अनुकूल कारक संज्ञा को प्राप्त करके तत्सम्बद्ध विभक्ति को उत्पन्न करती है परन्तु जब यह प्रातिपदिकार्थगत शक्ति प्रातिपदिकार्थ से अलग विवक्षित नहीं होती तब वह कारकविशेष का नाम धारण करके भी उस कारक की विभक्ति को उत्पन्न नहीं करती। इस विषय में भर्तृहरि भी कहते हैं-

स्वषडैरभिधाने तु स धर्मो नाऽभिधीयते।

विभक्त्यादिभिरेवासावुपकारः प्रतीयते।¹⁷

अर्थात् स्वार्थनिरूपित विशेष्यता से प्रातिपदिकार्थ का अभिधान विवक्षित होने पर वह शक्तिरूप धर्म अभिहित नहीं होता या शब्द से विभक्ति नहीं प्रयुक्त होगी परन्तु जब यह प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ निरूपित विशेष्यता से अभिहित होना विवक्षित नहीं होता तब इसका अभिहित करने का उपकार विभक्तियों के द्वारा ही किया जाता है। इसी तरह प्रकृत में भी 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के बिना ही अकेले 'राजन्' शब्द से तो षष्ठी विभक्ति लगने पर उससे स्वकृत स्वामित्व अर्थ की प्रतीति हो जाती है परन्तु अकेले 'पुरुष' शब्द से वह अन्य पदार्थ निरूपित विशेष्यत्व रूप अर्थ प्रतीत नहीं होता।

जिस प्रकार 'राज्ञः पुरुष' में पुरुष रूप स्व के कारण राजा में स्वामित्व है और वहाँ षष्ठी होती है उसी प्रकार पुरुष में भी राजा के स्वामित्व के कारण अपना स्वत्व है इसलिए फिर वहाँ भी षष्ठी होना चाहिए अर्थात् सम्बन्ध के दोनों में स्थित होने से केवल 'राजन्' में ही नहीं अपितु 'पुरुष' इन दोनों शब्दों से षष्ठी प्राप्त होती है। ध्यान रहे कि यहाँ यह शक्ति तो प्रातिपदिकार्थ की ही है। यी क्रिया में स्थित नहीं है। भाष्यकार अब इसका उत्तर देते हैं कि गुणप्रधानभाव या विशेष्यविशेषणभावरूप अर्थद्वय से मुक्त 'राजन्' और 'पुरुष' इन दोनों की समन्वित या सांज्ञी 'राजन्' शब्द से उत्पन्न हुई षष्ठी विभक्ति से वह स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध सम्बन्धार्थ कहा जा चुका है और वह सम्बन्ध अर्थ एक ही है। इसलिए राजा शब्द से आने वाली षष्ठी से राजनिष्ठ उक्त सम्बन्ध रूप अर्थ के उक्त हो जाने पर फिर पुरुषनिष्ठ सम्बन्धरूप अर्थ भी उक्त हो जाएगा तो फिर उक्तार्थानामप्रयोगः "न्यायनुसार 'पुरुष' शब्द से पृथक् षष्ठी नहीं होगी: क्योंकि अब वहाँ यह सम्बन्ध 'राजन्' रूप गौण पद में स्थित होकर द्विष्ठ होने से फिर 'पुरुषरूप' प्रधान पद को भी स्पर्श करता है और यह गौण पर प्रधान के उपकार के लिए प्रवृत्त होकर विशेषणतानियामक सम्बन्धवत्त्व रूप रूपान्तर का आश्रयण कर लेता है, जबकि प्रधान तो स्वार्थमात्र में ही स्थित हुआ अन्यनिरूपित विशेष्यतानियामक सम्बन्धरूप रूपान्तर को नहीं प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में "कट करोति" इत्यादि में प्रकारान्तर से द्वितीया सिद्ध हो जाने से फिर "अनभिहिते"¹⁸ सूत्र पर "तिङ्ङकृत्तद्धितसमासैरभिधानम्" इस वार्तिक द्वारा परिगणन करना अनावश्यक हो जाता है।

भाष्यकार आगे पूछते हैं कि अच्छा तो फिर क्या 'पुरुषसम्बन्धी राजा' इस अर्थ में 'पुरुषस्य राजा' ऐसा षष्ठ्यन्त 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कभी नहीं होता? इसका उत्तर देते हैं कि होता क्यों नहीं अवश्य होता है। किन्तु यह प्रयोग तब होगा जब 'पुरुष' शब्द से षष्ठी होगी अर्थात् जब 'पुरुष' का गुणभाव या विशेषणत्व विवक्षित होगा तथा राजा का विशेष्यत्व विवक्षित होगा उस समय 'राजन्' शब्द से प्रथमा होगी, षष्ठी नहीं अर्थात् तब 'पुरुषस्य राजा' ऐसा प्रयोग बनता ही है। भाष्यकार पुनः आगे शंका करते हैं कि अच्छा तो फिर क्या 'राज्ञः पुरुषः' इन दोनों पदों में एक साथ कभी षष्ठी का प्रयोग नहीं होगा? तो इसका उत्तर देते हैं कि होगा क्यों नहीं? परन्तु यह जो 'राज्ञः पुरुषस्य' यहाँ दोनों जगह षष्ठी होती है वहाँ 'राज्ञः' में तो पुरुष के कारण स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध अर्थ को बताने के लिए षष्ठी होती है किन्तु 'पुरुष' में जो षष्ठी देखी जाती है, वह उसमें 'राज्ञः पुनःपस्य गृहम्' यहाँ गृह इत्यादि कुछ अन्य पदार्थों के सम्बन्ध के कारण होती है। इससे एक ही अन्तु के अलग-अलग स्थानों पर गुणप्रधानभाव होने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता अर्थात् 'राज्ञः त्यस्य' में विशेषणभूत 'राजा' का विशेष्य बना हुआ 'पुरुष' 'गृह' इत्यादि किसी अन्य पदार्थ को दृष्टि से स्वयं भी विशेषण बन जाता है। फलतः किसी बाह्य या वाक्यान्तर्गत अर्थ का विशेषण होने में 'राजन्' के साथ-साथ

‘पुरुष’ से भी एक साथ षष्ठी आ सकती है। इस प्रकार जो “बष्ठी शेषे यह मूत्र कर्म आदि कारकों की अविवक्षा या शेष अर्थ में षष्ठी का विधान करने के लिए बनाया गया है। वह सर्वथा सार्थक सिद्ध हो जाता है।

संदर्भ सूची :

1. पाणिनीयाष्टाध्यायी (पा.) 1.4.29
2. वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा (प.ल.म.), कारकनिरूपण, पृ. 315
3. वहीं, धात्वर्थनिर्णय, पृ. 140
4. महाभाष्य (महा.) भाग (भा.) 2 सूत्र 2.31 पृष्ठ 766-67 किम्पुनर्द्वयं साधनमाहोस्विद् गुणः? इत्याह। कथं ज्ञायते? एवं हि कञ्चित् कञ्चित् पृच्छति ‘क्व देवदत्त’ इति? स तस्या आचष्टे- ‘असौ वृक्षे’ इति। ‘कतरस्मिन्’? यस्तिष्ठतीति। स वृक्षोऽधिकरण भूत्वान्येन शब्देनाभिसम्बध्यमानः कर्ता सम्पद्यते। द्रव्ये पुनः साधने यत्कर्म कभैव स्याद्, यत्करणं करणमेव यद्धिकरणमधिकरणमेव।
5. प.ल.म. कारकनिरूपण, पृ. 315
“कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च।
टपादानानिधकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्॥”
6. सिद्धान्तकौमुदी कारकनिरूपण- “गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका भवति”।
7. महाभाष्यप्रदीप (महा.प्र. भा. 2. सू. 2.3.50 पृ. 819
“किमप्रधानं शेष उतोपयुक्तादन्यः? पूर्वस्मिन् पक्षे सर्वेषां कारकाणां क्रियार्थत्वाच्छेषत्वमिति तत्रापि षष्ठीप्रसंगात् सर्वर कर्मादीनां सद्भावाद्दुत्तरोऽपि शेषार्थो न प्रकल्पत इति प्रश्नः”।
8. पा. 2.3.5
9. महाभाष्य प्रदीपोद्योत (महा.प्र.उ.) भा. 2 सू. 2.3.50 पृ. 819
“न चैतस्य कर्मत्वाद्यविवक्षायां चारितार्थ्येन क्रियाकारकभावेनान्वये तत्तद्विधिभिर्बाधात् क्व षष्ठ्यापत्तिः, अभिहितविषयेऽपि प्रथमया बाधादिति वाच्यम् ‘जोऽदिवर्थस्य करणे’ इत्यादिषु ‘षेषे’ इत्यनुवृत्तेस्तद्विषये क्रियाकारकभावेनान्वयेऽपि परत्वात् षष्ठीप्रसंगः इति तदर्थान्न दोषः”।
10. पा. 1.4.49
11. वाक्यपदीय (वा.प.) 3.7.156
12. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र.पृ. 819-20
“लोकप्रसिद्ध्यै तदुक्तम् वैषेषिकप्रक्रियया त्ववयवोऽवयविनोऽधिकरणम्”।
13. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र.उ.पृ. 819-20
“ननु राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजा पुरुषस्य किञ्चिद्दातीतिराजा कर्ता, पुरुषः सम्प्रदानं भवतु, ‘राज्ञो वस्त्रम्’ ‘विप्रस्य गौः’ ‘विप्रस्य तिलाः’ इत्यादौ तु तदसम्भवाच्छेषत्वं भविष्यतीत्यत आह भाष्ये एतत् स्वं नामेति”।
14. प्रकृत सूत्रस्थ महा. पृ. 820
“तदेत् स्वं नाम चतुश्चित्प्रकारैर्भवति कर्मादयः सन्ति”।
15. वा. पा. 3.7.157
16. पा. 5.2.126
17. वा. प. 3.7.13
18. पा. 2.3.1